विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ

बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010

फोन : 0734-2521499, 0755-2660407

Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com

Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2

भूमि दान का प्राचीन स्वरूप
चंद्रशेखर उपाध्याय

पृष्ठ क्र. 3-4

दक्षिण भारत की संस्कृति में सातवाहन
सुबोध रंजन

पृष्ठ क्र. 5-6

सुबन्धु और दण्डी का संस्कृत साहित्य
विनायक वर्मा

पृष्ठ क्र. 7

गुप्त काल की शास्त्रीय कला संरचना
ऋतु मिश्र

पृष्ठ क्र. 8

काशी और उसके सत्य का उद्घाटन
मिथिलेश यादव

भूमि दान का प्राचीन स्वरूप

चंद्रशेखर उपाध्याय

प्राचीन समय में भूमि दान का एक प्रकार था अग्रहार। प्राचीन काल में राजा मन्दिरों तथा ब्राह्मणों को भूमि दान देता, जो अग्रहार भूमि कहलाती थी। इस प्रकार की भूमि से सम्बन्धित समस्त अधिकार भी दानग्राही व्यक्ति को मिल जाती थी। वह भूमि उपजाऊ एवं बंजर दोनों प्रकार की हो सकती थी। इस प्रकार की भूमि को आप्रद, शासन, चतुर्वेयग्राम एवं ब्रहादेय, इत्यादि नामों से भी जाना जाता था। सबसे बड़ी बात थी कि इसे शासन की तरफ से जब्त नहीं किया जा सकता था। इस पर अन्य कोई व्यक्ति काश्त नहीं कर सकता था। ऐसी भूमि में स्थित समस्त चरागाहों, खानों, निधियों, विष्टि (बेगार) आदि के ऊपर भी उनका अधिकार हो जाता था। प्रायः अग्रहार के रूप में अनुदान में प्रदान की गई भूमि का कृतिका साधनों भूसी या घास, खुटियों या लकड़ी के माध्यम से सीमांकन भी किया जाता था। अग्रहार भूमि प्राप्त करनेवाले व्यक्ति को विशेषाधिकार या विशेष छूटे प्राप्त होती थीं। इनकी प्रकृति व स्वरूप देश के अलग-अलग भागों में भिन्न-भिन्न थी। इनमें से एक अधिकार 'छत्र' या 'भाट' कहलाता था, इस अधिकार के तहत अग्रहार भूमि में किसी प्रकार की सेना का प्रवेश वर्जित था। इससे एक ओर जहाँ राज्य की आय कम हुई वहाँ दूसरी ओर दानग्राही व्यक्ति छोटे-छोटे राजा बन बैठे। ऐसे भूमिदानों का उद्देश्य एकमात्र शैक्षणिक एवं धार्मिक होता था, लेकिन वास्तविक अर्थ में कमजोर शासक का परिचायक था। अग्रहार देने की प्रथा गुप्तकाल में ज्यादा प्रचलित थी। इसी प्रथा ने गुप्तोत्तरकाल में सामन्ती प्रथा को स्थापित किया था। उरलाम ताम्रलेख (छठी शती, उड़ीसा) के विवरण के अनुसार गंग राजा हस्तिवर्मन् ने जयशर्मन को अग्रहार के रूप में देने के लिए ढाई जोत भूमि खरीदी। इससे यह सिद्ध होता है कि राजा यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से भूमि का परम स्वामी था तथापि कभी-कभी उपहार देने के लिए भूमिधारकों से भूमि भी खरीदता था। इसी तरह महाराज कुमारामात्यनन्दन ने रविशर्मन नामक ब्राह्मण को मल्लपिष्टका ग्राम दान कर उस पर उसके भू-स्वामित्व को राजकीय दानपत्र के द्वारा कानूनी वैधता प्रदान की जैसा कि अमोना ताम्रपट (छठी शती) स्पाट करता है। इसी तरह की सूचना महासुदेवराज के अरंग ताम्रपट्ट (छठी शती, मध्य प्रदेश), अनन्तवर्मन के ताम्रपट्ट (सातवीं शती, उड़ीसा), नरसिंहवर्मन द्वितीय के कालहस्ति ताम्रपट्ट (आठवीं शती, आन्ध्र प्रदेश) और नेतभंज के रुस्सेलोंड ताम्रपट (आठवीं शती, उड़ीसा) से मिलती है। इसी सन्दर्भ में शत्रुघ्न के पेड्डा डुगम ताम्रपट (पाँचवीं शती, आन्ध्र प्रदेश) राजा द्वारा उपहार में दिए गए अग्रहार को लम्बे समय के बाद पुनरावंटन किए जाने का विवरण देता है। विशेष रूप से दानग्रहीता को भूमि हस्तान्तरित करने के लिए इतक को भेजा जाता था। इसकी पुष्टि अनन्तशक्ति बर्मन के मद्रास संग्रहालय ताम्रपट्टाभिलेख (पाँचवीं शती तमिलनाडु) से होती है। इसका यह अर्थ हो सकता है कि यह अधिकारी दानग्रहीता के पास शासन-पत्र न ले जाकर, स्थानीय अधिकारियों के पास राजा की स्वीकृति तथा आदेश ले जाता था। वह शासन-पत्र लिखकर भूमि दान से सम्बन्धित राजकीय स्वीकृति के वाहक का कार्य करता था, क्योंकि उसे राजा का विश्वासभाजन माना जाता था। दूसरी शती के वासिष्ठी-पुत्र पुलुमावि के नासिक गुहाभिलेख (महाराष्ट्र) में हल का अर्थ भूमि के उस भाग को बताया गया है जहाँ हलवाहा कृषक भूमि की जुताई करता था। दूसरी ओर ऐसी सम्भावना भी व्यक्त की गई कि हल से जोते जाने योग्य भूमि देवताओं व भिक्षुओं को समर्पित की गई। ऐसी भूमि कर-मुक्त हुआ करती थी। यहीं पर प्रयुक्त 'भिक्षु हल' शब्द का आशय भिक्षुओं की भूमि से है। भिक्षुहल की सूचना कार्ले का गुहाभिलेख भी देता है। कृष्णा गुण्डुर क्षेत्र (आन्ध्र प्रदेश) से प्राप्त तीसरी एवं चौथी शती के अभिलेख से हलवाहा द्वारा हल से जोते जाने योग्य कर मुक्त भूमि भिक्षुओं को पुण्य-वृद्धि के उद्देश्य से दान दिए जाने का उल्लेख है। ये अभिलेख प्राकृत भाषा के हैं। गोवा से प्राप्त

एक ताम्रपट्ट अभिलेख (सातवीं सदी) के अनुसार एक हल खज्जान दान में दी गई, जिसमें एक तालाब एवं घर था और यह भू–भाग करमुक्त था। हल न केवल भू–माप की प्रचलित इकाई, बल्कि यह व्यापक क्षेत्र माप को भी सूचित करता था। आठवीं सदी का गोविन्द तृतीय का पैथान (पैठन) ताम्रपटट्राभिलेख (हैदराबाद, आन्ध्र प्रदेश) हल से मापी गई भूमि का उल्लेख करता है। हल का वास्तविक भू–माप क्षेत्र निर्धारित करना कठिन है परन्तु अभिलेखों के विवरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कृषि योग्य भूमि की, एक हल द्वारा वर्ष पर्यन्त तक जोती गई सम्पूर्ण भूमि की माप 'एक हल भूमि' से लगाया जा सकता है। इस तरह भूमि माप की इकाई के रूप में हल का उपयोग दूसरी, आठवीं शती में और आज के महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश एवं गोवा में पूर्ववत् प्रचलित था।

महाराष्ट्र से प्राप्त प्राकृत भाषा में लिखित गौतमीपुत्र शातकर्णि का नासिक गुहाभिलेख दूसरी शती में प्रचलित भू–मापक निर्वतन की जानकारी उपलब्ध कराता है। इस अभिलेख के अनुसार पश्चिमी कखड़ी ग्राम में उषवदत्त द्वारा भोगी गई दो सौ (200) निवर्तन भूमि, त्रिरश्मि पर्वत पर स्थित गुफाओं में रहनेवाले प्रत्नजितों को दान में दो गई। विद्वानों के अनुसार विभिन्न कालावधियों में निवर्तन का माप बदलता रहा है। निवर्तन 3/4 एकड़, 2.1/4 एकड़, 3 एकड़ या 4.3/4 एकड़। गुंदुर जिला (आन्ध्र प्रदेश) से प्राप्त चौथी शती का स्कन्दवर्मनकालीन गुनवदेय ताम्रपत्र जो इन दिनों ब्रिटिश संग्रहालय, लन्दन में उपलब्ध है, निवर्तन द्वारा माप कर दान में दी गई भूमि का उल्लेख करता है।

कर्नाटक से प्राप्त पाँचवीं शती के पश्चिमी गंग सिंहवर्मन के कन्नड़ साहित्य परिषद् ताम्रपट के अनुसार चार केदार क्षेत्र को माप कर दो (2) निवर्तन भूमि दान में दी गई। केदार क्षेत्र से आशय दलदली कृषि योग्य भूमि से है। इसी शती के प्रकाशम जिला (आन्ध्र प्रदेश) से प्राप्त पल्लनव कुमार विष्णु के बब्बीपल्लि ताम्रपट्ट में वर्णित तथ्यों के अनुसार चौबीस (24) निवर्तन भूमि को एक गाँव के तीन भिन्न–भिन्न कोणों पर दान में दिया गया, इसे 'त्रय–त्रय भूम्यम्' भी कहते थे, जो तीन गाँवों को चौहदियों का समागम केन्द्र था। पाँचवीं शती के उपर्युक्त दोनों अभिलेखीय विवरणों के अनुसार आन्ध्र एवं कर्णाटक दोनों ही क्षेत्रों में स्थानीय निवासियों द्वारा भू–माप की इकाई के रूप में निवर्तन के प्रचलन की पुष्टि होती है। छठी शती में गी कर्णाटक में 'निवर्तन' का प्रचलन बना रहा। कर्णाटक के उत्तरी कनारा, चित्तलदुर्ग, बेलग्राम एवं चिकमंगलूर जिलों से प्राप्त अभिलेख इसे प्रदर्शित करते हैं। महाराष्ट्र के नागपुर, कोल्हापुर एवं नासिक जिलों से निवर्तन सम्बन्धित अभिलेखीय विवरण भी इसकी पुष्टि करते हैं। उत्तरी कनारा जिले से प्राप्त, कदम्बराजा रविवर्मन् का कुन्तगनि ताम्रपट्ट वरीयक ग्राम में तालाब के दोनों ओर चौबीस निवर्तन दान में दी गई भूमि का उल्लेख करता है। चित्तलदुर्ग जिले से प्राप्त रविवर्मन् के दनगेरे ताम्रपट्ट के अनुसार राजा ने सिद्धायतन में पूजा–पाठ के लिए कई निवर्तन भूमि दान में दी। इसी अभिलेख में तटबन्धीय भूमि छोड़ कर छह निवर्तन भूमि दान में देने का उल्लेख है। बेलग्राम जिले से प्राप्त वैज्ज महाराज के गोकक ताम्रपट में यह उल्लिखित है कि राजा द्वारा अपने माता–पिता की पुण्य अभिवृद्धि हेतु जलार ग्राम में पचास निवर्तन भूमि दान में दी गई। इसी तरह चिकमंगलूर जिले से प्राप्त कदम्ब राजा सिंहवर्मन के भूदिगेरे ताम्रपट के अनुसार राजा सिंहवर्मन् ने सिन्दक विषय में आसन्दी झील के पास पाँच निवर्तन करमुक्त भूमि दान में दी थी। दूसरी ओर महाराष्ट्र के नागपुर जिले से प्राप्त स्वामीराज के नागर्धन ताम्रपट्ट के अनुसार विवपट्टिका ग्राम में बारह निवर्तन भूमि दान में दी गई, जिसकी अनुशंसा स्थानीय प्रमुखों ने की थी।

कोल्हापुर जिले से प्राप्त कट्टि अरस के गोदचि ताम्रपट्ट में पच्चीस निवर्तन भूमि दान में देने का विवरण प्राप्त होता है। नासिक जिले से मिले एक अभिलेख के अनुसार वल्लिसिका ग्राम में राजा ने अपने माता–पिता की पुण्य अभिवृद्धि के लिए करमुक्त सौ निवर्तन भूमि दान में दी थी। सेन्द्रक निकुम्भाल्लशक्ति के कासारे ताम्रपट्टाभिलेख (औरंगाबाद, महाराष्ट्र) के पिप्पल क्षेत्र के ब्राह्मणों को तीर्थ निवर्तन भूमि दान में दी गई। कर्नाटक के शक संवत् 614 का विनायकादित्यसत्यश्रय के दारुयमदिमनं ताम्रपत (बेलारी जिला) में भूमि दान का पंजीकरण दर्ज कराया गया है। इस सन्दर्भ में दृश्यशर्मन् व कन्याशर्मन् को नक्षत्र निवर्तन भूमि दान में दिया गया। पुलकेशिन द्वितीय के समय का येकेरि प्रस्तर अभिलेख (बेलग्राम जिला, कर्नाटक), द्युतिपुरा में आठ निवर्तन, वेनिरा में चार निवर्तन, अगरियापुरा में फलदार वृक्ष युक्त पाँच निवर्तन के साथ कुल देवता निवर्तन भूमि, जिसे 'देवलोक भूमि' कहा जाता था, दान प्राप्तकर्ता दान में दिए गए विवरण का उल्लेख है। पुण्यकुमार का मलेपतु ताम्रपट्टा (कुडप्पा जिला, कर्नाटक) के अनुसार सुप्रियो नदी के तट पर बसे विरपारू गाँव के दक्षिण–पूर्व भाग में वास्तुशिल्प दान में दिया गया है तरह–तरह के राजकीय माप–जोख के रूप में निवर्तन को स्वीकार किया जा रहा है। विक्रमादित्य प्रथम के गहड़वाल ताम्रपट (कुर्नूल जिला, आन्ध्र प्रदेश) से राजा द्वारा राजकीय माप से पद्मस्वामी को पचास निवर्तन भूमि दान में दिए जाने का उल्लेख है। इसी ग्राम में उपर्युक्त दान के अतिरिक्त कोन्नशर्मन को सलग सहित पचास निवर्तन भूमि दान में दी गई। सलग का तात्पर्य मापे गए अनाज की मात्रा से है। अर्थात् यहाँ से अनाज से युक्त पचास निवर्तन भूमि का अर्थ लिया जा सकता है। इस प्रसंग में स्थानीय तेलुगु शब्द 'सलग' विशेष महत्व रखता है। पल्लव राजा विजयविष्णुगोपवर्मन का चूरा ताम्रपट (गुण्ट्रर आन्ध्र प्रदेश) यह स्पष्ट करता है कि राजा ने चूरा गाँव में घर बनाने की जगह, जिसमें एक वाटिका भी थी, के साथ 108 निवर्तन भूमि दान में दी थी। चालुक्य राजा जयसिंह प्रथम के तीन ताम्नपष्ट्राभिलेखों (विशाखापत्तनम्, आन्ध्र प्रदेश) से ज्ञात होता है कि कुंडुरू ग्राम के अतिरिक्त 32 निवर्तन भूमि माप कर दान में दी गई और दान में दी गई इस भूमि को राजा ने करमुक्त भी कर दिया था।

दक्षिण भारत की संस्कृति में सातवाहन

सुबोध रंजन

भारतीय संस्कृति, साहित्य और इतिहास के नव–निर्माण में दक्षिण क अधि सातवाहन शासकों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जहाँ तक सातवाहनों के इतिहास का सम्बन्ध है, विद्वानों के लिए आज भी यह विवाद का विषय बना हुआ है। यह विवाद सर्वप्रथम सातवाहन शब्द को लेकर उठ खड़ा हुआ। संस्कृत के प्राचीन धन्यों में सातवाहन शब्द में स और श दोनों का प्रयोग हुआ है। किन्तु वस्तुत इस विवाद का कोई औचित्य नहीं दिखायी देता है। प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के लिपिकर्ताओं एवं प्रतिलिपिकर्ताओं की असावधानी से वर्षों तथा शब्दों के प्रयोग की अशुद्धियों रह जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इस प्रकार की अनेक त्रुटियाँ मुद्रित प्रतियों में भी देखने को मिलती है। सातवाहन साम्राज्य के अनुसन्धाता जोगलेकर आदि विद्वानों का अभिमत है कि सातवाहन का विशुद्ध सप्तवाहन है। इस आधार पर सातवाहनों का सम्बन्ध सूर्यवंश से स्थापित किया गया है। उनकी सातकर्षि उपाधि से भी यही सिद्ध होता है।

पुराणों में सातवाहनों को आंध्रनृत्य कहा गया है, जिसके दो विभिन्न अर्थ माने गये है– आध का मृत्य और आंध जिसका भृत्य है। इस सम्बन्ध में गोपालचारी का अभिमत है कि आंध्र सातवाहन, मौर्यों के शासनकाल में उसी प्रकार उच्च पदों पर रहे होंगे जिस प्रकार काण्य शुगों के नृत्य थे। इस दृष्टि से अधिक उपयुक्त यह जान पड़ता है कि मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत रहते हुए भी सातवाहनों ने सम्भवतः अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखी।

सातवाहनों का सम्बन्ध किस वर्ग से था। इस पर भी विद्वान् एकमत नहीं हैं। नासिक प्रशस्ति में गौतमीपुत्र सातकर्णि को एक ब्राह्मण और क्षत्रियों के गर्व को चूर्ण करने वाला (खतिय–दप–मान–मदनस) कहा गया है। इस आधार पर राय चौधुरी तथा अन्य विद्वानों ने सातवाहनों को नाग जाति से सम्बद्ध ब्राह्मण सिद्ध किया है (डॉ. भण्डारकर का कहना है कि सातवाहन जिस वर्ण से भी सम्बद्ध रहे हों, ब्राह्मण धर्म के प्रति उनकी गहन निष्ठा थी। सातवाहन भारत के किस अंचल के मूल निवासी थे, इस सम्बन्ध में भी मतभेद हैं। पुराणों जैनग्रन्थों प्राप्त अभिलेखों तथा मुद्राओं के आधार पर सातवाहनों को धान्यकटक, गोदावरी तथा कृष्णा के निचले कांठे से नासिक तक, तेलगना प्रदेश, वैणगंगा की तटवर्ती भूमि, साँची (मध्य प्रदेश), बेलारी, आन्ध्र नदी की घाटी, विन्ध्य मेखला, नानाघाट (महाराष्ट्र), बरार और प्रतिष्ठानपुर आदि विभिन्न अंचलों का निवासी बताया गया है। इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों के अभिमत द्रष्टव्य है। डॉ. सुकथणकर ने पुराणों में उल्लिखित आन्ध्रभृत्य शब्द के आधार पर सातवाहनों को आन्ध्रवासी होना स्वीकार नहीं किया है। उनका तर्क है कि जिस प्रकार काण्वों के लिए शुगमृत्य कहा गया है, उसी प्रकार आन्ध्रभृत्य का भी प्रयोग हुआ है। उनका यह भी कहना है कि सातवाहनों के अभी तक जितने अभिलेख प्राप्त हुए है, उनमें कहीं भी आन्ध्र शब्द का उल्लेख नहीं हुआ है। इसके अतिरिक्त प्राचीन ग्रीक इतिहासकारों के भारत सम्बन्धी विवरणों में आन्ध्र या आन्ध्र प्रदेश का कोई उल्लेख नहीं हुआ है। डॉ. सुकथणकर ने बेलारी को सातवाहनों का मूल निवास बताया है। उन्होंने आध्रों तथा परवर्ती शासकों के अभिलेखों के साक्ष्य पर इस मत की पुष्टि की है। एक अन्य विद्वान जोगलेकर ने पुराणों के आन्ध शब्द का सम्बन्ध वर्तमान आन्ध्र प्रदेश में बहने वाली आन्ध नदी से जोड़कर इस नदी की घाटी को सातवाहनों का मूल निवास सिद्ध किया है। उन्होंने जातियों के आधार पर रूढ़ दशार्ण, शतदु और सारस्वत आदि जनपदों को इस सन्दर्भ में उद्धृत किया है। उनका कहना है कि आंध्र घाटी के निकट पूजा जिले के खेड तालुका में आज भी आंध्र लोगों की बस्तियाँ विद्यमान है। अधिक युक्तिसंगत यह जान पड़ता है कि आन्ध्र, महाभोज, महारठी, पेत्तनिक, पुलिन्द, शबर तथा पुण्ड्र आदि अनेक जातियों के संगठन से सातवाहनों ने एक नये राष्ट्र का निर्माण किया। यह नया राष्ट्र वर्तमान महाराष्ट्र ही है। जिसे मत्स्य पुराण में नवराष्ट्र कहा गया है।

महाराष्ट्र के सम्बन्ध में एक पुष्ट आधार यह भी है कि प्रसिद्ध सातवाहन राजा हाल ने अपनी गाथा सप्तशती का निर्माण महाराष्ट्री प्राकृत में ही किया था तीसरा महत्वपूर्ण मत गोपालचारी का है। उनके अभिमत के आधार प्राप्त अभिलेख और मुद्राएँ हैं। उनका कहना है कि सातवाहनों का सम्बन्ध

वर्तमान आन्ध प्रदेश से न होकर पश्चिमी भारत से था। वे आन्ध्र घाटी विदर्भ के मूल निवासी थे। सातवाहनों के सम्बन्ध में निश्चित रूप से यह तो कहा ही जा सकता है कि उनका अस्तित्व दक्षिण में ही बना रहा। वे आन्ध्रवंशीय थे और कदम्बों से पूर्व कुन्तल (कर्नाटक) प्रदेश पर राज्य करते थे। उनके उपलब्ध अभिलेखों और सिक्कों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अपनी शक्ति का स्थिरीकरण पहले दक्षिण में किया और धीरे–धीरे आन्ध्र को भी अपने अधीन कर लिया। किन्तु शक और आभीर आक्रमणों के कारण जब उनकी सत्ता पश्चिमी अंचलों में क्षीण पड़ गयी, तब वे गोदावरी एवं कृष्णा की भूमि तक ही सीमित रह गये।

सातवाहन शासकों का वंश–क्रम और शासनकाल निर्धारित करने सम्बन्धी पुराणों, अभिलेखी और मुद्राओं के साक्ष्य परस्पर इतने भिन्न हैं कि उनमें एकरूपता स्थापित करना सम्भव नहीं है। यही कारण है कि इस सम्बन्ध में आधुनिक इतिहासकार विद्वानों ने जो निष्कर्ष निकाले हैं, उनमें भी पारस्परिक भिन्नता देखने को मिलती है। सातवाहन वंश के संस्थापक के सम्बन्ध में प्रायः विद्वान एकमत है। उसका नाम सिमुक था। पुराणों में उसको शिशुक, सिसुक या सिसमको आदि अनेक नामों से कहा गया है। सियुक सातवाहन ने पुराणों के अनुसार तेईस वर्षों तक शासन किया। उसके बाद उसका छोटा भाई कृष्ण शासक नियुक्त हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि सिसुक का पुत्र सातकर्णि प्रथम अल्पवय था। इसलिए उत्तराधिकार कृष्ण को मिला। वह अपने अग्रज की भाँति वीर और विजयाकांक्षी था और उसने नासिक तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया था। उसने नानाघाट की गुफाओं का निर्माण भी कराया था। पुराणों के अनुसार कृष्ण ने अठारह वर्ष तक राज्य किया और उसका भतीजा, सातकर्णि प्रथम उसका उत्तराधिकारी बना। सातकर्णि प्रथम सिरि की उपाधि धारण करनेवाला प्रथम सातवाहन शासक था। उसकी पत्नी का नाम देवी नागनिका या नायनिका था। उसके नानाघाट से उपलब्ध अभिलेख ँमें सातकर्णि प्रथम को शूर वीर दक्षिणापथपति और अप्रतिहतचक्र आदि वीरतासूचक विशेषणों से अभिहित किया गया है। अपनी धर्मपरायणा पत्नी के साथ उसने अनेक यज्ञ अपने साम्राज्य के विस्तार के उपलक्ष्य में किये थे और इसी कारण उसको सिरि की सामान्य उपाधि से विभूषित किया गया था। सातकर्णि प्रथम के बाद सातवाहन वंश के अन्य चार शासकों के वंशक्रम तथा स्थितिकाल के सम्बन्ध में भिन्न–भिन्न मत हैं। विद्वानों के मतानुसार हकुश्री या महाहकुश्री और सातकर्णि द्वितीय उसके उत्तराधिकारी थे। पुराणों की पेश–तालिका में ती सकत गयी है। एसे सातकर्ण द्वितीया जाता है। तनको मातृरक नामी के सम्बन्ध में विद्वानों ने अनेक प्रकार की धारणाएँ व्यक्त की है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि स्थान जाति और परम्परागत वैदिक नामी के आधार पर उन्होंने बातुपरक नामों को अपनाया था। सातवाहन राजांश की कीर्ति–पाका को विधिमन्तर में फहराने काले यशस्वी शासकों में गौतमीपुत्र सातकर्ण का नाम प्रमुख है। उसके उपलब्ध अभिलेख से ज्ञात होता है कि अपने शासन के 16वें 17वें वर्ष में उसने रातवंश का उन्मूलन करने के पश्चात दक्षिण–पश्चिम में यवन शक तथा पहलों को भी पराजित किया। तदनन्तर उसने भृगुच्छ पर आक्रमण करके नहपान को भी पराजित किया। इस प्रकार उसने दक्षिणक्षिण–पश्चिम और सुदूर उत्तर तक अपने साम्राज्य की भीमाओं का विस्तार किया।

वह वीर और साहसी होने के साथ–साथ उदार, दानी और सहिष्णु था। इस रूप में उसका स्थान कुछ इने–गिने भारतीय शासकों में निर्धारित किया गया है। सातवाहन वंश के शासकों में उसने सर्वाधिक वर्षों तक शासन किया। उसके शासन की अवधि लगभग 50 वर्षों की बतायी गयी है। गौतमीपुत्र सातकर्ण के बाद विद्वानों ने अपील को नौधों शासक माना है किन्तु यह मन्तव्य उपयुक्त नहीं ठहरता है। गौतमीपुत्र सातकर्णि के बाद उसका पुत्र असिष्ठीपुत्र पुलोमावि प्रथम सातवाहनांश का उत्तराधिकारी नियुक्त हुआ। उपलब सामग्री के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी जीवितावस्था में ही गौतमीपुत्र ने अपने पुत्र पुलोमावि को उत्तराधिकारी बना दिया था। उसके शासन की कोई अलेखनीय घटना नहीं मिलती है। अन्तिम दिनों में उसने पिता द्वारा विजित विशाल साम्राज्य का कुछ अंश खो दिया था। पुलोमादि ने लगभग 36 वर्ष शासन किया।

पुत्लोभावि प्रथम के बाद कृष्ण द्वितीया गौरकृष्ण का क्रम निर्धारित किया गया है। उसके शासन की कोई उल्लेखनीय घटना नहीं है। उसने लगभग 25 वहीं तक शासन किया। कृष्ण द्वितीय के अनन्तर सातवाहन वंश के 11वें शासक शील का क्रय आता है। सातवाहन हाल का अनेक दृष्टियों से महत्व है। हाल के बाद सातवाहनश के लगभग सात शासकों के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं होता है। पुराणों की विवादास्पदाक करने के उपरान्त विद्वानों ने इन शासकों के नाम इस प्रकार निर्धारित किये है–पत्तलक–पुरिकरोन–स्वाति स्कन्दस्याति–महेन्द्र सातकर्ण–कुन्तत सातकर्णि और सुन्दर सातकर्ण। इन सबका शासनकाल लगभग 63 वर्षों तक रहा।

वशिष्ठिपुत्र पुलोमावी या पुलाव द्वितीय सातवाहन साम्राज्य का 19वाँ शासक हुआ। विभिन्न स्थानों से प्राप्त अभिलेखों और मुद्राओं में सरितवर्ण वशिष्ठिपुत्र सिव सिरी सात हिरु हतिकानि और तर्पणिर सातकर्णी आदि अभिधान इसी द्वितीय पुलोभावी के लिए उपयुक्त हुए हैं उन्हें दामन का स्वामी बताया गया है। उसने 4 वर्ष तक कोलमनिया पर शासन किया। पुलोमावि द्वितीय के बाद पुराणों की गुफा में शिवस्वामी का नाम उछाला गया है। उनके समय में अपनी शक्ति के संराके सातवाहन साम्राज्य पर आक्रमण किया गया और सूप और अपरांत जैसे समृद्ध प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया गया। क्षत्रपों की शक्ति बहुगुणित। शिवस्वामी के पुत्र पुलिमाधि तृतीय क्षेत्र में बढ़ते प्रभाव को रोकने में असमर्थता बनी हुई है। उनके 28 वर्ष के शासन काल के उपरान्त वशिष्ठीपुत्र घाटखट सातकर्ण सातवाहन साम्राज्य के 22 वें शासक नियुक्त हुए।

सुबन्धु और दण्डी का संस्कृत साहित्य

विनायक वर्मा

संस्कृत–साहित्य में तीन महान् गद्यंगेकार–सुबन्धु, दण्डी और बाण। इन तीनों की स्थितिकाल रासलीला एक ही है–सातवीं शती के लगभग, जिसका अर्थ है हर्ष का गणतंत्र। सुबंधु की 'वासवदत्ता' में राजकुमार कन्दर्पकेतु और राजकुमारी वासवदत्ता की प्रणय–कथा वर्णित है। श्वासवदत्ता एक लंबी कहानी या कहावत एक लघु उपन्यास है। अपनी इस कृति में सुबन्धु ने प्रतिमा प्रतिष्ठायों का चित्रण चिंतामणि राजा के सन्दर्भ में किया है। इसके अतिरिक्त सारिका–आचार–व्यवहार, संस्कृति और लोकाचारों का विस्तृत वर्णन सारिका तथा शुक द्वारा कही गई कथा में किया गया है। इस विवरण से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन सामाजिक जीवन आर्थिक दृष्टि से उन्नत था। लोग कुबेर और वरुण के समान दानी थे, उदार तथा धनवान थे। वे गन्धवों के समान प्रियभाषी और कामदेव के समान प्रियदर्शी थे। वे भरत और लक्ष्मण के समान प्रजापालक थे। धर्मों में उनकी पूर्ण निष्ठा और अतिथि सेवा में अभिरुचि थी। वे ज्ञानी, बहुज्ञ, काव्य–मर्मज्ञ और कलाविद थे। उसने कामकला में चतुर कर्नाटक तथा अपरान्तकदेश की कामकला–चतुर रमणियों, कपोल–फलक पर पत्रावली–रचना करने मे चतुर केरलदेश की युवतियों और चौसठ कलाओं में निपुण मालव देश की ललनाओं का रसभाव–समन्वित वर्णन किया है। वासवदत्ता स्वयम्बर में उपस्थित विभिन्न देशों के राजाओं तथा राजकुमारों की वेश–भूषा के रोचक वर्णन में तत्कालीन भारत की सांस्कृतिक स्थिति का अच्छा परिचय मिलता है। सुबन्धु की अपेक्षा दण्डी के 'दशकुमारचरित' में तत्कालीन भारत की सांस्कृतिक स्थितियों का विशद वर्णन हुआ है। उसमें काँची, सुह्मदेश, अश्मकदेश लाटदेश, कालपतनद्वीप, अंगदेश, अनंगदेश, चम्पा, उज्जैन, श्रावस्ती और विदर्भ आदि भारत के विभिन्न अंचलों की सजीव सांस्कृतिक झाँकियाँ देखने को मिलती है। जिन राजकुमारों की रोचक कथाएँ उसमें निबद्ध है, वे भारत के विभिन्न जनपदों के प्रतिनिधि है और उनके द्वारा सामाजिक जीवन के वैविध्य को बड़ी निपुणता से अभिव्यंजित किया गया है। उनमें राजा से लेकर रक तक के रोचक चित्र अंकित हैं। ये कथाएँ राजदरबारों के वैविध्यपूर्ण वातावरण से लेकर जन–सामान्य तक के जादूगर, धूर्त, वैश्या, दस्तकार, जुआरी, व्यापारी, जैन साधु और बौद्ध भिक्षुणी आदि के चरित्रों से सम्बद्ध है। स्त्रियों के मनोरंजन के साधनों में कलाकारिता तथा कन्दुक क्रीड़ा का प्रमुख स्थान था। मित्रगुप्त की आपबीती में सुह्मदेश के राजा तुगधन्वा की पुत्री राजकुमारी कन्दुकावती की कलात्मक कन्दुक–क्रीड़ा का मार्मिक वर्णन किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय राजमहलों के अन्दर स्त्रियों के लिए कन्दुक क्रीडा की विशेष व्यवस्था थी। यह कन्दुक–क्रीड़ा इतनी लोकप्रियता प्राप्त कर चुकी थी कि उसके आधार पर कन्दुक नृत्य के नाम से एक नये नाट्य–विधान का प्रचलन हो गया था। स्त्रियों की कलाप्रियता इस सीमा को पहुँच गयी थी कि अपने कला–विमुख पतियों को छोड़कर वे किसी ऐसे व्यक्ति से सम्बन्ध जोड़ने में अपना सम्मान एवं गौरव समझती थीं जो कलारसिक हो। कालिन्दवर्मा की पुत्री कल्पसुन्दरी को कला कौशलों और शिल्पों का इतना अधिक शौक था कि अपने पति विकटवर्मा से उसकी सदैव इसलिए अनबन रहती थी कि न तो उसकी ललित कलाओं में अभिरुचि थी और न कविता, कहानी तथा नाटक आदि में उसका अनुराग था। इन कलाओं का निवार्य दिशा या नीति में दिखाया गया है। के प्रमति, मित्रगुप्त, मन्त्रगुप्त, विभुत, उपहारवर्मा, अपहारवर्मा, पुग्योद, सोमदत और राजवाहन आदि दस राजकुमारों की कलाओं से ज्ञात होता है कि वे विभिन्न लिपियों तथा देश–विदेश की अनेक भाषाओं के ज्ञाता सहित चारों वेदों का उन्होंने अध्ययन किया था। काव्य नाटक उपायान इतिहास पुत्राण, धर्मशास्त्र व्याकरण, ज्योतिष न्याय मीमांसा आदि विद्याओं में उनका समय प्रवेश था। संगीत–शास्त्र की दृष्टि से उन्होंने वीणा मृदंग आदि में विशेष प्रवीणता प्राप्त कर ली थी। रत्नों और मणियों की परख करना मन्त्रविश का अभ्यास, औषध चिकित्सा मायाजाल, अनेक प्रकार के आश्वयर्थी को दिखा वे भली–भाँति जानते थे। घुड़सवारी और मृगया में उनकी विशेष गति थी। राजा को सर्वगुण सम्पन्न होना अत्यावश्यक था। राजा पुन्यवर्मा की में दण्डी ने सम्भवत किसी समकालीन या आश्रित शासक का उल्लेख करते हुए बताया है कि वह धर्म का अवतार पुण्यात्मा बलशाली सत्यवादी यानी अच्छी नसीहत देनेवाला कृपालु, दर्शनीय, बुद्धिमान, धर्मशास्त्र के अनुसार वकतव्य देने वाला लोकोपकारी, विद्वानों का प्रेमी उदार प्रजापालक कला–कौशल–हुनर– दसतकारियों का ज्ञाता, अर्थशास्त्रज्ञ सन्धिविग्रह आदि छः उपायों का युक्ति के साथ उपयोग करने वाला ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र को उनके गुण–क्रमानुसार व्यवस्थित करने वाला, कुशल प्रशासक दीर्घायु और श्रुतकीर्ति था। इस प्रकार बाण के अतिरिक्त सुबन्धु और दण्डी की कथा कृतियों में हर्षयुगीन भारत के सामाजिक, आर्थिक, कलात्मक,

शैक्षिक और सांस्कृतिक स्थितियों का विशद रूप में वर्णन हुआ है। किंवदन्ती और सुभाषित के अनुसार दण्डी की तीन रचनाएँ विश्रुत बताई गई हैं। प्रथम रचना 'काव्यादर्श' और दूसरी है 'दशकुमारचरित'। अधिकतर विद्वानों ने यह मान लिया है, परन्तु कुछ अन्य विद्वान इन दोनों को एक साहित्यकार की न मानकर दण्डी नाम के दो भिन्न व्यक्तियों की रचना होने का अनुमान करते हैं। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि काव्यशास्त्र के जिन मान्य सिद्धान्तों का 'काव्यादर्श' में प्रतिपादन और निर्देश मिलता है, 'दशकुमारचरित' में उसकी असंगति और विरोध दिखाई देता है। अतः आचार्य और काव्यकार के सिद्धान्त और व्यवहार की असंगति एक नहीं दो भिन्न कृतिकारों का संकेत करती है। परन्तु अधिकतर विद्वानों के अनुसार उक्त असंगति का कारण यह मान लिया गया है कि अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भकाल में महाकवि ने 'दशकुमारचरित' की रचना की थी।

'काव्यादर्श' उस प्रौढ़ावस्था की रचना है जब दण्डी का शास्त्रीय वैदुष्य परिपक्व हो गया था। अतः इन दोनों कृतियों को दण्डी रचित मानने में अधिकतर विद्वानों को कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु तीसरी कृति का निर्धारण अब तक विवादास्पद है। 'पिरोल' के मत से शूद्रकरचित कहा जानेवाला 'मृच्छकटिक' ही दंडी की तृतीय रचना है। इसका एक आधार 'काव्यादर्श' में बिना किसी नाम के 'मृच्छकटिक' की एक पंक्ति का उद्धरण है। दूसरा कारण ह–'मृच्छकटिक' और 'दशकुमारचरित' दोनों में चित्रित समाज एवं उनके पात्रों के चरित्र चित्रण में अत्यधिक साम्य। प्रथम कारण कोई महत्वपूर्ण कारण नहीं है। दूसरा केवल इतना ही सूचित करता है कि दोनों ही कृतियाँ प्रायः समकालीन समाज के युगबोध का यथार्थोन्मुख और जीवंत चित्रण करने में प्रयत्नशील हैं। 'मल्लिकामारुत' भी कभी कभी दण्डीकृत कहा जाता है। पर वह 15वीं सदी के 'उदण्ड रंगनाथ' की कृति है। 'अवंतिसुंदरीकथा' को (जो अपूर्ण गद्यकाव्य है) अब अनेक विद्वान 'दशकुमारचरित' की कथाओं के साम्य पर दण्डी की तृतीय रचना मानने लगे हैं। दोनों गद्यकाव्यों की शैलीगत भिन्नता को देखकर कुछ पण्डितों ने उसके दण्डीकृत होने में आपत्ति की है। पर अन्य विद्वान युवावस्था की शैली में 'दशकुमारचरित' को विरचित और प्रौढ़ावस्था की परिपक्व शैली में 'अवन्तिसुन्दरीकथा' का निर्माण मानकर इसे भी (अवन्तिसुन्दरीकथासार के प्रमाण पर) असंदिग्ध रूप में दण्डी की तृतीय रचना स्वीकार करते हैं। कुछ लोग– 'अवन्तिसुन्दरीकथा' को 'दशकुमार चरित' की खोई हुई पूर्व पीठिका मानने लगे हैं। 'दशकुमारचरित' संस्कृत के तीन प्रसिद्ध (वासवदत्ता, कादम्बरी और दशकुमार चरित) गद्यकाव्यों में एक महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध कृति है। वह काव्य की कथाशैली में लिखित है। 'महाभाष्य' और प्राचीन उपनिषदों की सहज गद्यशैली, (पंचतन्त्र) 'हितोपदेश' आदि की नीति साहित्य वाली सुबोध और व्यावहारिक गद्यशैली की तुलना में दशकुमारचरित की भाषाशैली अधिक साहित्यिक और काव्यात्मक है। परन्तु सुबन्धु और बाण की अलंकृत एवं कलात्मक गद्यशैली से यह भिन्न है। कथामूलक अलंकृत शैली के चमत्कार की परिपक्वता यद्यपि सुबन्धु में प्रौढ़ और बाण में प्रौढ़तर है, तथापि उन दोनों में वर्ण्य वस्तु और पात्रों का चरित्रांकन 'दशकुमारचरित' की अपेक्षा धूमिल है। कलामूलक आदर्शवादिता ने 'वासवदत्ता' और 'कादम्बरी' की शैली को यथार्थोन्मुख परिवेश से दूर हटाकर कुछ कृत्रिम बना दिया है, पर दण्डी की गद्यकाव्य शैली में उस 'अति' और सायासता का प्रभाव सीमातिक्रामी नहीं है। महाकवि सुबन्धु गद्य के प्राचीन कवि हैं। इन्होंने एकमात्र रचना की जो, संस्कृत साहित्य में 'वासवदत्ता' के नाम से विख्यात है। कवि कि यह रचना कल्पना प्रसूत है। यदि हम सुबन्धु के विषय में दृष्टिपात करें तो इस सम्बन्ध में अनेक विरोधाभास है। क्या वासवदत्ता के प्रणेता सुबन्धु ही हैं? इस विषय में भी मतभेद है। कतिपय विद्वानों का मानना है कि सुबन्धु और बसुबन्धु एक ही हैं। आचार्य दण्डी सुबन्धु को 'बिन्दुसार' मानते हैं और ऐसा भी मानते है कि काव्य–प्रतिभा का प्रदर्शन करने के पश्चात् ये राजा को प्रसन्न करके बन्धन से मुक्त हुए थे।

इस तथ्य का वर्णन महाकवि दण्डी की अवन्तिसुन्दरी कथा में प्राप्त होता है। सुबन्धु के वस्तुविन्यास, गुणों, रसों और अलंकारों की योजना तथा उसके दोषों की भी समीक्षा कर लेने के बाद संस्कृत साहित्य में सुबन्धु या उनकी कृति वासवदत्ता के स्थान का निर्धारण करना कुछ आसान है। रस और वस्तु की योजना की दृष्टि से जिनका किसी काव्य में अनिवार्य महत्व होता है सुबन्धु की वासवदत्ता का स्थान नगण्य है किन्तु अलंकारों की विच्छिति कम से कम अनुप्रास और उत्प्रेक्ष की चारुत्तर योजना वासवदत्ता, विन्ध्यगिरि, रेवा, भागीरथी, वसन्तकाल, सूर्यास्त, चन्द्रोदय, श्मशान, सागर और सागर तट आदि के वर्णन के लिए सुबन्धु संस्कृत साहित्य में सदा गौरव के साथ उल्लिखित होते रहेंगे। सुबन्धु के मूल्यांकन में मोटे तौर पर पाश्चात्य और पौरस्त्य दो दृष्टियाँ है। पाश्चात्य आलोचना की दृष्टि से जिसका मैंने स्वसंपादित वासवदत्ता की भूमिका में उल्लेख किया है, वासवदत्ता एक निष्प्राण कलाबाजी से अधिक कुछ नहीं है किन्तु पाश्चात्य रूचि और समीक्षा की मान्यताओं से वासवदत्ता को आँकना अनुचित है। फिर भी इतना तो निश्चित है कि सुबन्धु कालिदास आदि की कक्षा के कवि नहीं है जो आलोचना के किन्हीं भी देश कालातीत मानदण्डों पर खरे उतरेंगे। संस्कृत आलोचना शास्त्र के अनुसार समीक्षा करके कुछ संस्कृत पण्डितों ने भी, जिनमें वासवदत्ता के लब्ध प्रतिष्ठित टीकाकार अभिनव बाणभट्ट श्री कृष्णमाचार्य का नाम प्रमुख है, वासवदत्ता की तीव्र आलोचना की है। उनकी आलोचना में सार है किन्तु बाण के प्रति कुछ अधिक ही मोह के कारण उन्होंने सुबन्धु के साथ पूरा न्याय नहीं किया है। सुबन्धु की वासवदत्ता के मूल्यांकन में हमें कभी भी यह नहीं भूलना चाहिए कि स्वयं कवि ने वासवदत्ता की रचना केवल श्लेषमय प्रबन्ध रचना में अपनी शक्ति दिखाने के लिए की थी। किसी रस निर्भर सुघटित वस्तुक प्रबन्ध की रचना उनका लक्ष्य नही था।

गुप्त काल की शास्त्रीय कला संरचना

ऋतु मिश्र

गुप्त युग में जहाँ कला की सर्वांगीण उन्नति हुई। वहीं कला विषयक लक्षण–ग्रन्थों के निर्माण में भी प्रगति हुई। इन ग्रंथों में कला संरचना सम्बन्धी जो शास्त्रीय आधार निश्चित हुए उनका प्रभाव गुप्तयुगीन स्थापत्य, मूर्ति तथा चित्र आदि कला की समस्त शाखाओं पर लक्षित हुआ और उसके फलस्वरूप ऐसी कला–कृतियों प्रकाश में आयीं, जिनके द्वारा भारतीय कला के इतिहास में गुप्त सम्राटों के गौरव की अभिवृद्धि हुई तथा भारत की भावी कला–शैलियों को पल्लवित होने के लिए नयी भाव–भूमि का निर्माण हुआ। तिब्बत से प्रकाशित तजूर ग्रंथमाला के 123 खण्डों में चार खण्ड शिल्प–विषयक ग्रंथों के हैं। ये शिल्पविषयक ग्रंथ है– दशतल न्यग्रोध परिमण्डल बुद्ध प्रतिमा, सम्बुद्ध भाषित प्रतिमालक्षण विवरण, प्रतिमालक्षण और चित्रलक्षण। यह अंतिम ग्रंथ नग्नजित या भयजित् विरचित है। उसका रचनाकाल अनिश्चित है, किन्तु छठी–सातवीं शती तक उसकी प्रसिद्धि हो गयी थी। शतपथ ब्राह्मण, महाभारत और जैन ग्रंथों में नग्नजित् को गंधार देश का राजा बताया गया है। यह ग्रंथ धर्म–प्रचारक भिक्षुओं द्वारा हस्तलेख के रूप में तिब्बत से लाया गया था। तिब्बती अनुवाद के रूप में यह प्राप्त हुआ है। प्राप्त प्रति में तीन अध्याय है और वह अपूर्ण है। इस ग्रंथ के प्राविधिक एवं लाक्षणिक प्रयोगों का प्रभाव एशिया की अनेक देशों की कला शैलियों पर पड़ा। गांधार मूर्तिशिल्प पर चित्रकला के लक्षणों का जो प्रभाव लक्षित होता है, उसका कारण सम्भवतः यही ग्रंथ है। तिब्बत, खुत्तन तथा मध्य एशिया के अन्य देशों की चित्रकला तथा गांधार शैली की मूर्तिकला में भारतीय प्रभाव की जो परम्परा व्याप्त हुई उसका आधार भी यही ग्रंथ रहा है तिब्बत में 9वीं से 17वीं शती तक जितने चित्र, पटचित्र और भित्तिचित्र बने, उनके रेखा–सौष्ठव और वर्ण–वैविध्य पर इस ग्रन्थ का प्रभाव स्पष्ट है। तंजूर ग्रंथमाला से प्रकाशित चित्रलक्षण के अतिरिक्त उक्त तीनों शिल्प–विषयक ग्रंथों के सम्बंध में प्रामाणिक ऐतिहासिक जानकारी उपलब्ध नहीं है, किन्तु उनकी प्राचीनता के सम्बध में कोई संदेह नहीं है, और साथ ही यह भी निश्चित है कि भारतीय तथा तिब्बतीय मूर्तिकारों एवं शिल्पियों पर उनके लक्षण–विनियोगों का आंशिक रूप में प्रभाव रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि तिब्बत में भारतीय बौद्धकला के प्रवेश के बाद वहीं उसका विकास ठीक उसी रूप में नहीं हुआ, जैसा कि भारत में हुआ। इस भिन्न दृष्टि को ध्यान में रखकर भारतीय बौद्ध विद्वानों ने तिब्बत की कला पर स्वतन्त्र पन्चों का प्रणयन किया। प्रतिमालक्षण को छोड़कर शेष ग्रन्थ इसी दृष्टि से लिखे गये और तिब्बतीय स्थापत्य, चित्र तथा मूर्ति–निर्माण की भावी परम्परा पर उनके लक्षणों एवं प्राविधिक स्थापनाओं का व्यापक प्रभाव रहा है। इसी प्रकार महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित वास्तु–विद्या। मयमत, मनुष्यालयचन्द्रिका, शिल्परल और समरागणसूत्रधार में अन्तिम ग्रन्थ को छोड़कर शेष चारों ग्रंथ प्राचीन हैं। भारतीय मूर्तिकला तथा चित्रकला की शिल्प–संरचना तथा तकनीकी पक्ष पर उनका व्यापक प्रभाव रहा। महाराज भोज (1010–1055 ई.) का समरांगणसूत्रधार एक विशाल ग्रंथ है और उसके कलेवर तथा विषय–विस्तार से स्पष्ट होता है कि वह भारत में कला के लक्षण–ग्रंथों की समृद्ध परम्परा का प्रतिफल है। कल्याण के चालुक्य राजा सोमेश्वर (1131 ई.) का भानसोल्लास भी इसी कोटि का ग्रंथ है। इसी प्रकार प्रो. फणीन्द्रनाथ बसु द्वारा सम्पादित एवं उड़िया लिपि में उपलब्ध शिल्पशास्त्र (सभाष्य) और प्रतिमाललक्षण आदि ग्रंथ शिल्प–विषयक परम्परा के प्रौढ़ एवं प्राचीन ग्रंथ हैं। कला–विषयक प्राचीन लक्षण ग्रंथों में शिल्प का अधिकतर उल्लेख किया गया। उसका प्रयोग कला के अर्थ में हुआ है। आरम्भ में समस्त कलाएँ शिल्प के अन्तर्गत परिगणित होती रही हैं और इसीलिए इन शिल्प–विषयक ग्रंथों में स्थापत्य, मूर्ति और चित्रकला के इन तीनों प्रमुख अंगों पर विचार किया गया। इसी प्रकार के बहुसंख्यक ग्रंथ निरन्तर प्रकाश में आ रहे हैं। ये बहुसंख्यक प्राचीन ग्रंथ वस्तुतः किसी ऐसी समृद्ध परम्परा के द्योतक हैं। यद्यपि बीच–बीच में कहीं–कहीं जिसमें व्यतिक्रम भी होता गया, तथापि जिसको व्यापक स्वीकृति प्राप्त हो चुकी थी और जिसके द्वारा कला के लोक–प्रचलित प्रतिमान स्थिर एवं निश्चित हो चुके थे। ऐसे ग्रंथों में गन्नमाचार्य का मयमत शिल्पशास्त्र, कश्यप का अशुनद्भद, विश्वकर्मीय शिल्प, अगस्त्य का अगस्त्य सकलाधिकार, सनत्कुमार का सनत्कुमार वास्तुशास्त्र और मण्डन का शिल्पशास्त्र उल्लेखनीय हैं। परम्परा से त्रऋषियों के नाम पर विश्रुत इन ग्रंथों की प्राचीनता, मौलिकता तथा अविकलता के सम्बन्ध में विश्वस्त रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। यह निश्चित है कि कला के परवर्ती लक्षण–ग्रंथों के वे प्रेरणा–स्रोत एवं उपजीव्य रहे और भारत की कला–समृद्धि में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा। कला के लक्षण–ग्रंथों की इस परंपरा में विष्णुधर्मपुराण के चित्रसूत्र का नाम इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है कि उसमें कलाओं के विशेषत मूर्तिकला और चित्रकला के प्राविधिक ज्ञान को पूर्णता प्राप्त हुई है। उसकी प्रस्तावना में पुराकालीन नारायण मुनि द्वारा प्रणीत किसी चित्रसूत्र का उल्लेख करते हुए यह बताया गया है कि यह ग्रन्थ उसी पुरातन ग्रन्थ का पुनः संस्करण है। फिर भी यह निश्चित है कि यह अधिक बड़ा नहीं है, किन्तु छोटे या संक्षेप रूप में उसमें जो कुछ प्रतिपादित है। उसकी समकालीन तथा भावी कला–पीढ़ियों के लिए एकमात्र यही आधार बना रहा। उसके नौ अध्यायों का क्रम इस प्रकार है– आयाम गान वर्णन, प्रमाण वर्णन सामान्य मान वर्णन, प्रतिमा लक्षण वर्णन, क्षयवृद्धि, रंगव्यतिकर वर्तना, रूप–निर्माण और शृङ्गारादि भाव कथन।

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

काशी और उसके सत्य का उद्घाटन

दुनिया में कुछ ही ऐसी जगहें हैं जो इतनी सहजता से इतिहास का भार वहन कर पाती हैं, जितना काशी या वाराणसी ने किया है। यह पवित्र शहर हमारी सभ्यता की आत्मा का प्रतीक है और उस लचीलेपन का प्रतीक है जो हमने सदियों से कई प्रतिकूलताओं और घातक हमलों का सामना करते हुए प्रदर्शित किया है।

विक्रम संपत की पुस्तक 'प्रतीक्षा शिव की ज्ञानवापी काशी के सत्य का उद्घाटन' विश्वेश्वर या विश्वनाथ रूपी भगवान शिव की निवास स्थली के रूप में काशी के इतिहास, प्राचीनता और पवित्रता को पुनः प्रस्तुत करती है। शिव ने स्वयं अपने भक्तों को आश्वासन दिया था कि यदि वे अपनी नश्वर कुण्डली का इस शहर में करेंगे तो उन्हें मोक्ष प्राप्त होगा। यह पुस्तक विश्वेश्वर के इस स्वयं–प्रकट स्वयंभू ज्योतिर्लिंग मंदिर के इतिहास पर प्रकाश डालती है, जो सदियों से भक्तों के लिए शरणस्थली भी रही है और मूर्तिभंजन की रक्तरंजित लहरों का लक्ष्य भी रही है। हालाँकि, जब भी मंदिर को ध्वस्त कर उसे नष्ट करने का प्रयास किया गया, यह और भी तीव्र उत्थान तथा वैभव के साथ लोकजीवन के समक्ष प्रकट हुआ। वाराणसी सिर्फ इसलिए पवित्र नहीं है क्योंकि इसका उल्लेख शास्त्रों (धर्मग्रंथों) में किया गया है। हम शास्त्र आधारित सभ्यता नहीं हैं। कोई भी माधक जो प्राण–संबंधी प्रथाओं को जानता है, वह काशी जा सकता है और भूगोल की शक्ति का अनुभव करने के लिए अपनी साधना कर सकता है। इसलिए, भले ही सांस्कृतिक शिक्षा में, कानूनी प्रक्रिया में औपचारिक और अनौपचारिक रूप से शास्त्रों को उद्धृत करना महत्वपूर्ण हो, परंतु एक साधक के लिए, आध्यात्मिक अनुभव स्वयं शास्त्रों को उद्धृत करने या उनके वाचन से अधिक महत्वपूर्ण है। इतिहास लेखन के लिए स्वदेशी या भारतीय दृष्टिकोण आज के तरीकों से काफी भिन्न था। मुख्य रूप से मौखिक परंपराओं के माध्यम से प्रसारित, इस इतिहास को बाद में कवियों द्वारा काव्यात्मक रूप में प्रलेखित किया गया। कल्हण की राजतरंगिणी जैसी जीवनी संबंधी कविताएँ यूरोपीय शैली के विपरीत हैं, जो केवल जानकारी एकत्र करने पर केंद्रित है। हालाँकि, भारतीय दृष्टिकोण लोगों को महान् व्यक्तियों के गुणों के बारे में शिक्षित करने पर जोर देता है। उदाहरण के लिए, तुलसीदास का रामचरित मानस का उद्देश्य राम और अन्य लोगों के चरित्र को चित्रित करना है (चरित, चरित्र का संस्कृत रूप है), जिसका हमारे जीवन में पालन किया जा सकता है। यहाँ तक कि वाल्मिकी भी कहते हैं कि उनकी रामायण का लेखन उद्देश्य केवल ऐतिहासिक डेटा प्रस्तुत करने

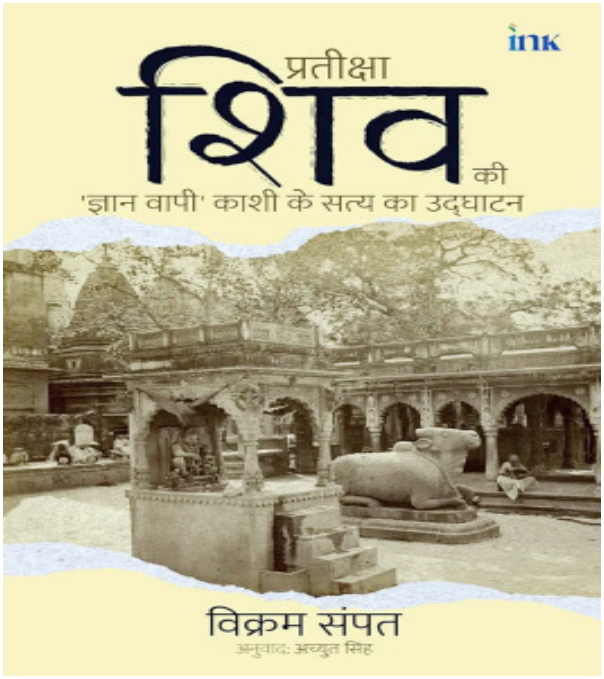

के बजाय सीता (सीतायाः चरितं महत्) के आचरण को उजागर करना है। इसलिए, हमारा इतिहास वर्णन हमारे लिए एक शिक्षाप्रद और आत्म–सुधारात्मक प्रक्रिया है, न कि केवल युद्ध और घटनाओं का विवरण। यद्यपि काशी–खंड (स्कंद पुराण का भाग) जैसे नए पौराणिक ग्रंथों में भी काशी की महिमा का गुणगान करना जारी रखा, साथ ही टोडरमल के गुरु, नारायण भट्ट (1514–1594) द्वारा लिखित एक पाठ, त्रिस्थली सेतु में खुले तौर पर म्लेच्छादि–दुष्ट राजाओं, क्रूर मुस्लिम शासकों के पृषित कृत्यों का उल्लेख किया गया है, और लोगों से आग्रह किया गया है कि वे काशी के मूल स्थान का सम्मान जारी रखें। काशी ही क्यों? इस प्रसिद्ध शहर का उल्लेख हमारे प्राचीन ग्रंथों– रामायण व महाभारत और यहाँ तक कि वैदिक ग्रंथों (शतपथ ब्राह्मण) में भी मिलता है। मार्क ट्वेन (1897) का मानना था कि बनारस इतिहास में भी पुराना है, परंपरा से भी पुराना, किंवदंतियों से भी पुराना है और उन सभी को मिलाकर भी उनसे दोगुना प्राचीन दिखता है। एमएच शेरिंग (इंडोलॉजिस्ट) ने (1868) भी संक्षेप में कहा है कि यह शहर धार्मिक और बौद्धिक रूप से भारत का प्रतिनिधित्व करता है। सभी हिंदू अपने जीवनकाल में कम से कम एक बार काशी जाने की इच्छा रखते हैं। यहाँ तक कि वहाँ मरने की अभिलाषा भी उनके मन में रहती हैं।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com